मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-12, अङ्क-8 जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व (वि.नि.सं. 2539) अगस्त 2013

बाल-गीत

मुक्तिपुरी जाओ

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु जानो, धर्म अहिंसा उर लाओ।टेक॥

तत्त्वों का सम्यक् निर्णय कर, भेदज्ञान सु प्रगटाओ।
अन्तर्मुख हो करो स्वानुभव, ज्ञायक की श्रद्धा लाओ।
सकल धर्म का मूल यही है, सम्यग्दर्शन प्रगटाओ॥

मैं आतम हूँ देह है पुद्गल, मैं अविनाशी देह विनाशी।
मैं हूँ चेतन देह अचेतन, मैं आनंदमय देह है जड़मय।
निजसुख निज में ही पाओ, मुक्तिमार्ग में बढ़ जाओ॥

रागादिक हैं आश्रव बंध, दुखमय दुख के ही कारण।
रत्नत्रय ही संवर निर्जरा, तथा मोक्ष सुख के कारण।
स्वाश्रय से स्वगुण पाओ, निजप्रभुता में रम जाओ॥

ज्ञानाभ्यास करो नित भाई, सम्यग्ज्ञान बढ़े सुखदाई।
भोगों की मत करो कामना, भाओ निज वैराग्य भावना।
सम्यक्चारित्र प्रगटाओ, जिससे मुक्तिपुरी जाओ॥

— *बाल भावना से साभार*

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
प्रधान सम्पादक
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन

सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून

भूतपूर्व मुख्य सलाहकार
स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
श्री लक्ष्मीचन्द बी. शाह, लन्दन
श्री पवन जैन, अलीगढ़
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

अङ्क के प्रकाशन में सहयोग

श्री कश्यप,
चेतन जैन
हस्ते
श्री अजित जैन,
बडोदरा (गुजरात)

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व

क्या / कहाँ

जाननक्रिया से क्रोधादि....	3
निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग	13
अहा! कैसी होगी...	21
भवभ्रमण का कारण	24
शुद्ध, शुभ और....	26
समाचार-दर्शन	29

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा मङ्गलायतन मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन।

संवर का उत्कृष्ट उपाय :

जाननक्रिया से क्रोधादि क्रिया का भेदविज्ञान

वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है, अर्थात् एक वस्तु की दूसरी वस्तु कोई सम्बन्धी नहीं है—ऐसा कहकर यहाँ आस्रव को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा बतलाया है। आस्रव के और आत्मा के प्रदेश भिन्न होने से, दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न होने से, उन्हें आधार-आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। जाननक्रिया, आधार और आत्मा, आधेय—ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध है परन्तु आस्रव को और आत्मा को तो अत्यन्त अभाव होने से ऐसा कोई सम्बन्ध भी नहीं है। जाननक्रिया में 'यह आत्मा' ऐसा ज्ञात होता है। जाननक्रिया जो कि स्वयं का स्वरूप है, वह आधार है और आत्मा आधेय है। यह बात दृष्टान्तसहित कहकर, संवर का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, वह यहाँ समझाते हैं।

(श्री समयसार, संवर अधिकार पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में से)

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में॥181॥
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में॥182॥
ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे॥183॥

वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं, अर्थात् एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एक वस्तु की दूसरी वस्तु कोई सम्बन्धी नहीं है। अरे! पुण्य-पाप भाव भी जीव के नहीं हैं। उपयोग में उपयोग है, अर्थात् शुद्धज्ञान और शान्ति की परिणति में आत्मा है, क्योंकि उस द्वारा आत्मा ज्ञात होता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान के परिणाम, वह आधार है और उसके आधार से आत्मा है, अर्थात् आत्मा को आधेय

बनाया। उपयोग में उपयोग है, अर्थात् पर्याय के आधार से द्रव्य है क्योंकि पर्याय में आत्मा ज्ञात होता है। वैसे तो द्रव्य के आधार से पर्याय है परन्तु यहाँ शैली अलग है। रागादि से रहित जो शुद्ध उपयोग है, उसमें आत्मा है, अर्थात् शुद्ध उपयोग द्वारा आत्मा ज्ञात हुआ; इसलिए आत्मा, आधेय और उपयोग-शुद्धपरिणति, वह आधार है। द्रव्य शुद्ध है—ऐसा जाना किसन? शुद्धपरिणति ने जाना; इसलिए शुद्धपरिणति, आधार और आत्मा, आधेय है।

यहाँ तो ऐसा लेना है कि आत्मा में जो विकारीभाव उत्पन्न हों, वे आत्मा के असंख्य प्रदेश से भिन्न हैं। भगवान आत्मा के प्रदेश और आस्रव के प्रदेश भिन्न हैं। वैसे तो निर्विकारीपर्याय और शुद्धद्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। चिद्‌विलास में आता है कि निर्मलपरिणति के प्रदेश भिन्न हैं और द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। निर्मलपरिणति, पर्याय है और द्रव्य है, वह ध्रुव है। समझ में आया?

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु, शुद्धपरिणति में ज्ञात हुआ; इसलिए उसमें आत्मा है। जिसमें जो ज्ञात हुआ, उसमें वह है। यहाँ तो कहते हैं कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है। एक आत्मा, दूसरे आत्मा के कारण नहीं है। आत्मा को और कर्म को कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आस्रव को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आस्रव को यहाँ वस्तु कहा है; आस्रव वस्तु, जीव में नहीं और जीव वस्तु, आस्रव में नहीं, क्योंकि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं। मिथ्यात्वादि परिणाम हों, उन्हें जीववस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी चीज तो कहीं रही परन्तु एक वस्तु में नहीं, अर्थात् आस्रव वस्तु, आत्मा में नहीं और आत्मा, आस्रव में नहीं। क्योंकि उन्हें कोई सम्बन्ध ही नहीं। नवतत्त्व में दो तत्त्व हैं न? अर्थात् दोनों भिन्न तत्त्व हैं न! इसलिए आत्मा को और आस्रव को सम्बन्ध नहीं है... आत्मा को और कर्म को; आत्मा को और शरीर को; आत्मा को और स्त्री-पुत्र-धन्धा आदि को कोई सम्बन्ध नहीं है। आस्रव दूसरी चीज है—ऐसा यहाँ कहते हैं। वैसे तो नवतत्त्व में संवर भी आत्मा से भिन्न तत्त्व है परन्तु यहाँ तो संवर में आत्मा

ज्ञात होता है, इसलिए संवर, आधार और आत्मा, आधेय—ऐसा कहना है, परन्तु आस्रव को और आत्मा को तो कोई सम्बन्ध नहीं है।

भिन्न क्षेत्रवाले का तो कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु असंख्य प्रदेश में होने पर भी, भगवान आत्मा के प्रदेश अलग है और आस्रव के प्रदेश अलग हैं। जिस क्षेत्र में ध्रुवपना है, उसमें आस्रव नहीं; आस्रव के प्रदेश अलग है। भाव भिन्न है, इसलिए वस्तु भिन्न है और इसलिए क्षेत्र-प्रदेश भिन्न है। आहा...हा...! शरीर, वाणी तो कहीं रहे परन्तु दया, दान आदि का भाव भिन्न है, इसलिए उसके प्रदेश भी भिन्न है। है तो असंख्य प्रदेश में, तो भी प्रदेश भिन्न है। इसलिए भगवान आत्मा की सत्ता और आस्रव की सत्ता भिन्न-भिन्न है। दोनों की एक सत्ता नहीं परन्तु दो की भिन्न-भिन्न सत्ता है।

भगवान आत्मा का अस्तित्व और मलिन परिणाम का अस्तित्व—दोनों का अस्तित्व भिन्न है। शरीर-वाणी के प्रदेश तो पृथक् प्रदेश है परन्तु दया, दान आदि के प्रदेश असंख्य प्रदेश से भिन्न—असंख्य प्रदेश में के भिन्न प्रदेश गिनने में आये हैं। आत्मा की पर्याय में आस्रव है, वह आत्मा से भिन्न है; इसलिए उसके प्रदेश भी भिन्न हैं। असंख्य प्रदेश में आस्रव होता है और आत्मा भी असंख्य प्रदेश में है तो भी आस्रव के प्रदेश अलग हैं; इसलिए आत्मा और आस्रव दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। यहाँ तो दो के बीच अत्यन्त अभाव कहना है। जहाँ तक आस्रव है, वहाँ तक उसके प्रदेश भिन्न है परन्तु निकल जाये, वहाँ वे प्रदेश निर्मल पर्याय के हो जाते हैं। आस्रव निकल जाने पर, आस्रव के प्रदेश निकल नहीं जाते। यह बहुत गम्भीर बात है। आस्रव जाने के बाद उसके प्रदेश कहाँ गये? वे प्रदेश निर्मल पर्याय के हो गये। फिर वे प्रदेश अभिन्न हो गये। आस्रव जाने के बाद उसके प्रदेश भिन्न नहीं रहते।

श्रोता : दोनों के बीच अतद्भाव है या अत्यन्त अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। विकार है न, इसलिए अत्यन्त अभाव है। कठिन बातें हैं।

इस प्रकार एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ आधार-आधेय सम्बन्ध

नहीं है। जीव के आधार से शरीर रहा ही नहीं... अरे! आस्रव के आधार से आत्मा नहीं। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है। संवर, अर्थात् मोक्ष का मार्ग, आत्मा की निर्मल परिणति... उसका यह अधिकार शुरु किया है। त्रिकाल की अपेक्षा से निर्मल पर्याय को भी भिन्न वस्तु कहने में आया है। यहाँ अलग बात है।

शरीर के आधार से आत्मा और आत्मा के आधार से शरीर या कर्म के आधार से आत्मा स्वर्ग में जाये या आत्मा के आधार से कर्म साथ जाये—ऐसा नहीं है। प्रत्येक वस्तु को अपने स्वरूप में दृढ़पने रहनेरूप ही आधार-आधेय सम्बन्ध है परन्तु आत्मा को और आस्रव को आधार-आधेय सम्बन्ध है ही नहीं। भगवान आत्मा को निर्मल परिणति आधार है परन्तु आत्मा को आस्रव आधार नहीं है। निर्मल परिणति, वह आधार और आत्मा, आधेय—ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध है। संवर, आधार और वस्तु, आधेय है।

आहा...हा...! एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। परवस्तु तो कहीं रही परन्तु क्रोधादि या दया, दान आदि, वह आत्मा के नहीं क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न होने से, भाव भिन्न होने से, क्षेत्र भी भिन्न है; इसलिए सत्ता भिन्न-भिन्न है। चैतन्य ज्ञायकभाव और व्यवहाररत्नत्रय के प्रदेश भिन्न होने से दोनों की सत्ता भिन्न है, इसलिए एक-दूसरे को आधार-आधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। प्रदेश तो भिन्न है, सत्ता तो भिन्न है परन्तु व्यवहाररत्नत्रय का राग, आधार और आत्मा, आधेय—ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। विकारीभाव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा से भिन्न है। जिस भाव से तीर्थङ्कर गोत्र बंधे उसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा से भिन्न है।

श्रोता : ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध, वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हुआ, वह कोई वस्तु नहीं। वास्तव में तो ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, यह भी व्यवहार है। ज्ञान, ज्ञान को जानता है, यह निश्चय है। सूक्ष्म बात है, भाई!

राग, आधार और उसके आधार से निर्मल परिणति प्रगटे—ऐसा आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं है। राग की क्रिया और आत्मा के स्वभाव को कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, इससे इनकार करते हैं क्योंकि उसे आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है। चैतन्य आनन्द का धाम जो आत्मा, वह आधेय है और जिसके द्वारा ज्ञात होता है—ऐसी शुद्धपरिणति, वह आधार है। उपयोग कहने से शुद्ध परिणमन, वह आधार है और आत्मा, आधेय है।

इसलिए प्रत्येक वस्तु को अपने स्वरूप में दृढ़पने रहनेरूप की आधार-आधेय सम्बन्ध है। आत्मा जिस जाननक्रिया द्वारा ज्ञात हुआ, वह जाननक्रिया आधार और आत्मा आधेय—ऐसा आधार-आधेय सम्बन्ध है। ज्ञान के परिणमन में, श्रद्धा के परिणमन में—इत्यादि शुद्धपरिणमन में ख्याल में आवे कि 'यह आत्मा है' ऐसा जो जाननक्रियारूप अपना स्वरूप है, उसमें आत्मा रहा हुआ है अर्थात् उसमें वह ज्ञात होता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा जो जाननक्रियारूप अपना स्वरूप है, उसमें रहा है। राग, आत्मा का स्वरूप नहीं है परन्तु जाननक्रिया उसका स्वरूप है; इसलिए जाननक्रिया में ज्ञान रहा है, आत्मा रहा है।

प्रवचनसार में ऐसा कहा कि पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है और पर्याय, द्रव्य-गुण द्वारा रची जाती है। यहाँ दूसरी बात करना है। यहाँ तो जो वस्तु है, उसके सन्मुख जाने से जो शुद्ध परिणमन हुआ, उसके आधार से वस्तु है। क्योंकि रागादि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसे विकार से भिन्नता सिद्ध करनी है। जो शुद्ध परिणमन प्रगट हुआ, उसमें 'यह वस्तु है' ऐसा ज्ञात हुआ, इसलिए जाननहार-जाननक्रिया, आधार है और आत्मा, आधेय है। चैतन्यमूर्ति प्रभु के आश्रय से जो शुद्ध परिणमन प्रगट हुआ, उसके आधार से आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए शुद्धपरिणति, आधार और आत्मा, आधेय है। शुद्ध वस्तु के लक्ष्य से जो शुद्धपरिणति हुई, उसमें परिपूर्ण वस्तु ज्ञात हुई—भले ही वस्तु उसमें आती नहीं—इसलिए वह शुद्ध

परिणमन, आधार और द्रव्य, आधेय है। प्रगट अंश द्वारा अंशी ज्ञात हुआ; इसलिए अंश को आधार और अंशी को आधेय कहा है।

पर्यायस्वरूप में द्रव्य ज्ञात हुआ है, पर्याय में द्रव्य आता नहीं। द्रव्य की जैसी सामर्थ्य है, वैसी सामर्थ्य ज्ञात में-पर्याय में ज्ञात हो जाती है। एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है—ऐसे अनन्त गुण का तत्त्व उस जाननक्रिया में ज्ञात होता है।

जाननक्रिया का अर्थात् जानने की शुद्धपरिणति की क्रिया का ज्ञान से-आत्मा से अभिन्नपना होने के कारण ज्ञान, ज्ञान में ही है; आत्मा, आत्मा में ही है। आत्मा के परिणाम को आत्मा ही कहा—जाननक्रिया को आत्मा कहा अर्थात् जाननक्रिया उसका स्वरूप है और उस स्वरूप में आत्मा है। जाननक्रिया है, वह पर्याय है, उस पर्याय के आधार से आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए पर्याय को आधार कहा है। जाननक्रिया, वह उत्पन्न क्रिया है, उसके आधार से आत्मा ज्ञात होता है। जाननक्रिया, आत्मा का स्वरूप है और उस स्वरूप के आधार से आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए वह स्वरूप और आत्मा अभिन्न है।

श्रोता : पर्याय, आत्मा से अभिन्न है अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिन्न है अर्थात् पर्याय में द्रव्य आया—ऐसा नहीं, परन्तु पर्याय का मुख द्रव्य की ओर हुआ, इसलिए अभिन्न है—ऐसा कहा है। वरना पर्याय, वह पर्याय है और द्रव्य, वह द्रव्य है। विकारी पर्याय के प्रदेश तो भिन्न है ही; जबकि निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसके प्रदेश भी द्रव्य से भिन्न हैं। जो त्रिकाली के प्रदेश हैं, उनसे एक समय के प्रदेश भिन्न हैं। यहाँ यह बात नहीं लेनी है।

राग और आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है परन्तु राग को और अपने को जाननेवाली जो जानने की क्रिया, वह आधार और आत्मा आधेय है। जानने की क्रिया, वह आत्मा का स्वरूप है; इसलिए उस स्वरूप के आधार से आत्मा रहा है। यदि जाननक्रियारूप प्रगट पर्याय न होवे तो 'यह आत्मा है'—ऐसा जाना किसने? राग से तो ज्ञात होता नहीं, इसलिए वह जाननक्रिया,

आधार और वस्तु, आधेय है। इन दो को अन्दर आधार-आधेय सम्बन्ध है। उपयोग में उपयोग रहता है अर्थात् शुद्ध परिणमन कायम रहता है; इसलिए उपयोग को जाननक्रियारूप शुद्ध परिणमन कहा है।

जाननक्रिया का ज्ञान से अर्थात् शुद्धपरिणमन का आत्मा से अभिन्नपना होने से जाननक्रिया ज्ञान में ही है अर्थात् शुद्धपरिणमन आत्मा से भिन्न नहीं है। निर्मल पर्याय है, वह आत्मा में ही है। जाननक्रिया में आत्मा है, राग में कहीं आत्मा नहीं है। जिसके आधार से वह ज्ञात होता है, उस जाननक्रिया में आत्मा प्रतिष्ठित है। जाननक्रिया, वह आत्मा का स्वरूप है; इसलिए आत्मा में ही है। इस प्रकार अविरुद्ध सिद्ध करके, अब विरुद्ध सिद्ध करते हैं।

जो क्रोधादि हैं वे, क्रोधादि परिणमन के आधार से क्रोध है। क्रोध, मान, माया, लोभरूप विकार का परिणमन, वह स्वयं के स्वरूप में रहा है। विकारभाव का परिणमन, वह उसका स्वरूप है और उसमें क्रोधादि प्रतिष्ठित हैं, उसके स्वरूप के आधार से विकार है परन्तु आत्मा के आधार से या आत्मा के परिणमन के आधार से क्रोधादि नहीं है।

नियमसार में आता है कि संवर, निर्जरा और केवलज्ञान की पर्याय, यह सब बर्हितत्त्व है; अन्त:तत्त्व तो एक निज त्रिकाली आनन्द का नाथ ही है। परन्तु किसे ? जो उसे ज्ञान का ज्ञेय बनावे उसे। आहा...हा...!

जैसे जाननक्रिया में आत्मा रहा है, वैसे विकार की परिणति में विकार रहा है, आत्मा में रहा नहीं है। क्रोधादि क्रिया, क्रोध से अभिन्न है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह क्रोधादि से अभिन्न है और आत्मा से भिन्न है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प-राग, वह उसकी क्रिया में रहा है; आत्मा में नहीं।

जैसे आत्मा, आत्मा में ही है; वैसे विकार, विकार में ही है। विकार के आधार से आत्मा नहीं अथवा आत्मा के आधार से विकार नहीं। आत्मा, जाननक्रिया के आधार से और विकारीभाव, विकारीक्रिया के आधार से है।

और विकार में, कर्म में, अथवा नोकर्म में अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म,

या नोकर्म में ज्ञान नहीं अर्थात् आत्मा नहीं और आत्मा में क्रोधादि कर्म या नोकर्म नहीं, क्योंकि आत्मा को और उनको अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। आहा...हा...! आत्मा को और शुभभाव को—व्यवहाररत्नत्रय के भाव को अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। विकारी परिणाम आत्मा में नहीं और आत्मा, विकार में नहीं; कर्म, आत्मा में नहीं और आत्मा, कर्म में नहीं; नोकर्म आत्मा में नहीं क्योंकि उनको परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है। आहा...हा...! जगत की कौन सी चीजें बाकी रही। शुभभावसहित समस्त चीजों को और आत्मा को परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है; इसलिए उन्हें परमार्थभूत आधार-आधेय सम्बन्ध है ही नहीं। व्यवहाररत्नत्रय को और आत्मा को परमार्थभूत आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है। राग के आधार से आत्मा ज्ञात होता हो अथवा आत्मा के आधार से राग हो—ऐसा है ही नहीं।

तथा, जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, वैसे ज्ञान का स्वरूप क्रोधादि क्रिया भी है—ऐसा किसी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता और क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है, वैसे जाननक्रिया भी है—ऐसा किसी प्रकार स्थापित नहीं किया जा सकता। क्योंकि जाननक्रिया अर्थात् स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान की क्रिया और क्रोधादि क्रिया अर्थात् दया, दान आदि के परिणाम, वे दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होते हैं। आत्मा, ज्ञानानन्दस्वरूप से प्रकाशित होता है और रागादिक, अज्ञानस्वभाव से प्रकाशित होते हैं। भगवान जानन-देखनस्वभाव से प्रकाशित होता है और रागादि विकारस्वभाव से प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार स्वभाव से भिन्न होने से ये वस्तुएँ भिन्न-भिन्न ही हैं। इस प्रकार ज्ञान को और अज्ञान को अर्थात् आत्मा को और क्रोधादि को आधार-आधेय सम्बन्ध है ही नहीं।

पुण्य-पाप के भाव अज्ञान हैं और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इन दोनों को आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है क्योंकि भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होने से दोनों भिन्न वस्तु हैं; इसलिए शुभराग, सम्यग्दर्शन में जरा भी मदद करता है—ऐसा नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो शुक्ललेश्या हो तो भी

उससे धर्म हो—ऐसा नहीं है। अथवा उसके आधार से आत्मा ज्ञात हो—ऐसा नहीं है।

अब दृष्टान्त से विशेष समझाते हैं—

एक ही आकाश को... यह ऊपर दिखता है, वह कहीं आकाश नहीं है; आकाश तो अरूपी है और उस आकाश का क्षेत्र अनन्त है। ऐसे आकाश को ज्ञान में लेकर आधार-आधेय भाव विचारने में आवे कि आकाश किसके आधार से रहता है? तो ऐसा समझा जा सकता है कि आकाश को अन्य द्रव्य में स्थापना अशक्य है, इसलिए आकाश का आधार-आधेयपना अन्य भिन्न द्रव्यों में भासित नहीं होता परन्तु आकाश आधार और आकाश ही आधेय—ऐसा बुद्धि में भासित होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तुझे आत्मा की बात समझाते हैं परन्तु तू आकाश का तो विचार कर! तुझे बुद्धि में आकाश का आधार-आधेयपना आकाश में ही भासित होगा। क्षेत्र अपेक्षा से सर्वाधिक विशाल जो आकाशद्रव्य है, उसे आधार किसका? आकाश ही आकाश को आधार है अर्थात् आकाश, आकाश में ही प्रतिष्ठित है—ऐसा समझा जा सकता है। जिससे बड़ा कोई द्रव्य नहीं—क्षेत्र से बड़ा कोई द्रव्य नहीं—ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त प्रदेशवाले आकाशद्रव्य को आधार किसका? ऐसा विचारने पर आकाश को आकाश ही आधार है—ऐसा समझा जा सकता है। इस प्रकार समझनेवाले को आकाश को परद्रव्य का आधार भासित नहीं होता।

उसी प्रकार प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा को अपनी बुद्धि में स्थापित करके... राग में स्थापित करके नहीं परन्तु बुद्धि में स्थापित करके अर्थात् ज्ञानस्वरूप त्रिकाली वस्तु को ज्ञान की पर्याय में स्थापित करके, उसका आधार-आधेय सम्बन्ध विचार किया जाये; जैसे अनन्त-अनन्त प्रदेशी आकाश का विचार किया, वैसे अनन्त-अनन्त भाववाले ज्ञानस्वरूप आत्मा को बुद्धि में स्थापित करके उसका आधार-आधेयभाव विचारने में आवे तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु को बाकी के अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध होने से ज्ञान-आत्मा अपने ही आधार से है, इसलिए ज्ञान, ज्ञान में ही

प्रतिष्ठित है अर्थात् जाननक्रिया से आत्मा ज्ञात होता है और वह जाननक्रिया आत्मा का स्वभाव है; इसलिए जाननक्रिया के आधार से आत्मा है अर्थात् आत्मा के आधार से आत्मा है—ऐसा भलीभाँति समझा जा सकता है।

जिसकी विद्यमानता में 'यह आत्मा है, यह आत्मा है, यह आत्मा है' ऐसा ज्ञात होता है, वह जाननक्रिया, ज्ञान से अभिन्न होने से ज्ञान ही ज्ञान का आधार है अर्थात् आत्मा को आत्मा का आधार है। आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, इसलिए वह अज्ञान से अथवा दुःख से कैसे ज्ञात हो? अर्थात् वह दया, दान आदि के परिणाम से कैसे ज्ञात हो? ज्ञात नहीं हो।

बापू! बुद्धि में अर्थात् लक्ष्य में आत्मा को लेकर विचार कर तो तुझे ज्ञात होगा कि जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए जाननक्रिया, आधार है परन्तु रागादि, आधार नहीं है। आत्मा का सूक्ष्म विचार करने पर रागादि, आत्मा को आधार है—ऐसा बुद्धि में भासित नहीं होता। जिससे ज्ञात हुआ, उस धर्म की—सम्यग्दर्शन की जो जाननक्रिया, वह आधार और आत्मा आधेय है। परन्तु परद्रव्य आधार है—ऐसी अपेक्षा प्रभवती नहीं है—उद्‌भवित नहीं होती। इसलिए 'एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित है' ऐसा भलीभाँति समझा जा सकता है। ज्ञान की परिणति में ज्ञान-आत्मा ज्ञात होता है। इसलिए ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है। इस प्रकार समझ जानेवाले को पर में आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। अर्थात् धर्मी जीव को, आत्मा का आधार राग है—ऐसा भासित नहीं होता।

इसलिए ज्ञान, ज्ञान में ही है और क्रोधादि, क्रोधादिक में ही है। व्यवहार, व्यवहार में ही है और निर्विकल्प परिणमन हुआ, उसमें ही आत्मा है। इस प्रकार दया, दान आदि वस्तु ही आत्मा से भिन्न है, उसका क्षेत्र ही भिन्न है, उसकी सत्ता ही भिन्न है और दोनों को परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता है; इसलिए दया, दान आदि के राग से आत्मा ज्ञात हो—ऐसा नहीं है।

इस प्रकार भावकर्म, जड़कर्म और नोकर्म तथा आत्मा का भेदविज्ञान भली प्रकार सिद्ध हुआ। ●

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य

निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग

अरे! मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? किस कारण से मुझे यह संसार भ्रमण है और किस कारण से यह भ्रमण मिटेगा? — ऐसी यथार्थ विचारदशा भी जीव को जागृत नहीं हुई है। ऐसी विचारदशा जागृत हो, निर्णय करे और फिर आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर प्रतीति करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होकर भवभ्रमण का अभाव होता है।

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, सुखी होना हो, धर्म करना हो अथवा सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे क्या करना चाहिए? - यह बात यहाँ चल रही है।

पहले तो जीवादि नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न ज्यों के त्यों जानना चाहिए। इन नव तत्त्वों के विचाररूप भाव, अखण्ड चैतन्य वस्तु में जाने में निमित्त होते हैं। जैसे, दरवाजे के द्वारा घर के अन्दर आया जाता है परन्तु दरवाजा साथ में लेकर अन्दर नहीं आया जाता है; इसी प्रकार अन्दर के चैतन्य घर में आने के लिए नव तत्त्व के विचार करना, वह दरवाजा है अर्थात् निमित्त है परन्तु उन नव तत्त्व के विचार के शुभराग से कहीं अभेदस्वभाव में नहीं पहुँचा जा सकता तथा पहले नव तत्त्व के ज्ञानरूप आँगन में आये बिना भी अभेद में नहीं जाया जा सकता।

अहो! अनन्त काल में ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त हुआ, उसमें विचार करना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो? अनन्त काल में कल्याण नहीं हुआ और निगोदादि अनन्त भवों में परिभ्रमण किया। अब, इस अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा का कल्याण कैसे हो? उसकी यह बात है।

जिस प्रकार राजा से मिलने जाने पर पहले बीच में द्वारपाल आता है; इसी प्रकार इस चैतन्य महाराज की प्रतीति और अनुभव करने जाने पर बीच में नव तत्त्व की श्रद्धारूप द्वारपाल आता है। उन नव तत्त्वों का वर्णन चल रहा है; उसमें जीव, अजीव, पुण्य और पाप - इन चार तत्त्वों का वर्णन

आ गया है। सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? यह उसकी विधि कही जा रही है। यह सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा, देह इत्यादि परवस्तुओं से भिन्न चैतन्यवस्तु है, उसे वैसा ही मानना, सम्यक्श्रद्धा का मार्ग है।

जैसे, किसी मनुष्य के पास करोड़ रुपये की पूँजी हो और उसे करोड़ो रुपये की पूँजीवाला माने तो वह मानना सच्चा कहलाता है परन्तु करोड़ रुपये की पूँजीवाले को हजार रुपये की पूँजीवाला मानें तो उस मनुष्य सम्बन्धी मान्यता सच्ची नहीं कहलाती। करोड़ रुपये की पूँजी का ज्ञान करने के बाद, करोड़ रुपये की पूँजी अपने को कैसे हो ? यह बात तो मिथ्या है। इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी सिद्ध भगवान जैसा है, उसे वैसे पूर्णस्वरूप में पहले विचार में लेना, वह व्यवहार से जीवतत्त्व की सच्ची मान्यता है, उसमें अभी विकल्प है। चैतन्यतत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करने से पूर्व वैसा विकल्प आता है, विकल्प से भी स्वीकार तो पूर्ण का ही है।

आत्मा को सिद्ध समान पूर्ण न मानकर, क्षणिक विकारवाला माने, उसे तो जीवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती। जो विकल्प से भी मन द्वारा भी परिपूर्ण जीवतत्त्व को नहीं जानता, उसे विकल्प तोड़कर उसके अनुभवरूप परमार्थश्रद्धा तो कैसे होगी ? नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा, वह भी पुण्य है, धर्म नहीं है तो फिर बाहर की क्रिया में तो धर्म होगा ही कैसे ? अरे ! अन्दर के अलौकिक स्वानुभव का मार्ग लक्ष्य में तो ले !

जिस प्रकार मक्खी कफ को खाने जाती है तो उसकी चिकनाहट में चिपट जाती है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव, अनादि से चैतन्य को भूलकर इन्द्रिय-विषयों की रुचि करके उसमें ही तल्लीन हो जाता है परन्तु किञ्चित् निवृत्ति लेकर, 'अरे ! मैं कौन हूँ, यह संसार परिभ्रमण कैसे मिटे ?' इस प्रकार जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करता। अभी नव तत्त्व के विचार में भी राग के प्रकार पड़ते हैं क्योंकि नव तत्त्वों का विकल्प एक साथ नहीं होता, अपितु क्रम -क्रम से होता है, इसलिए उसमें रागमिश्रित विचार है। पहले रागमिश्रित विचार से नव तत्त्वों का निर्णय करना, वह व्यवहारश्रद्धा

है, वह भी अभी वास्तव में धर्म नहीं है किन्तु धर्म का आँगन है और नव तत्त्वों के विकल्प से रहित होकर एक अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना, वह निश्चयश्रद्धा है, वही प्रथम धर्म है।

जिस प्रकार बहियों का लेखा देखे तो पूँजी का पता पड़ता है; इसी प्रकार सत्समागम से शास्त्र का अभ्यास, श्रवण-मनन करे तो जीव क्या-अजीव क्या? - इसका पता पड़ता है।

कोई कहता है कि 'हमारे जीवित रहते तो घरबार, व्यापार - धन्धा इत्यादि का बहुत काम होता है; इसलिए जीते-जी इन सबसे भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं हो सकती, परन्तु मरण के काल में कुछ करूँगा।' - वस्तुतः तो ऐसा कहनेवाले को तत्त्व की रुचि ही नहीं है, आत्मा को समझने की दरकार ही नहीं है। अरे भाई! अभी भी शरीर, पैसा इत्यादि समस्त पदार्थों से आत्मा भिन्न ही है, आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, फिर भी मैं कर्ता हूँ - ऐसा मानता है, वह अज्ञानी है। यदि पर से भिन्न आत्मा की बात अभी नहीं समझता और समझने की रुचि भी नहीं करता तो मरण के काल में किस प्रकार करेगा?

मैं जीव हूँ और शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीव हैं; आत्मा उन शरीरादिक के कार्य नहीं करता, इतनी-सी बात भी जिसे नहीं जँचती, उसे जीव-अजीवतत्त्व के पृथक्पने का भान भी नहीं है।

प्रश्न - आत्मा, व्यवहार से तो पैसा इत्यादि प्राप्त कर सकता है न?

उत्तर - ऐसा नहीं है। पैसा जड़ है, उस जड़ के आने-जाने की अवस्था, उसके कारण होती है; आत्मा, व्यवहार से भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा उन्हें प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। 'इसने पैसा प्राप्त किया, इसने ऐसा किया और यह प्राप्त किया' - ऐसा बोला जाता है परन्तु वह कहीं वस्तुस्वरूप नहीं है। नव तत्त्व का विचार करे तो वस्तुस्वरूप ख्याल में आता है और बहुत-सी भ्रमणाएँ मिट जाती हैं।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, दिव्यध्वनि में फरमाते हैं कि हे जीव!

तू धीरजवान हो, जरा शान्त हो; तुझे आत्मा का कल्याण करना हो, धर्म करना हो तो हम कहते हैं, तदनुसार जीव-अजीव को भिन्न समझ। अभेद चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा करने के लिए प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव-अजीव को भिन्न जानना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

जीव और अजीव - ये दो तत्त्व मूलद्रव्य हैं, वे त्रिकाली हैं और शेष सातों तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। अवस्था में जो क्षणिक पुण्य-पाप होते हैं, वे जीव के त्रिकाली स्वभाव में से नहीं आये हैं तथा जड़ की क्रिया से भी नहीं हुए हैं। जीवद्रव्य में से पुण्य आया - ऐसा मानने से जीव और पुण्य तत्त्व अलग-अलग नहीं रहते और जड़ की क्रिया से पुण्य मानने पर अजीव और पुण्यतत्त्व अलग-अलग नहीं रहते। पुण्य तो क्षणिक अवस्था से होता है और जीवतत्त्व त्रिकाल है; इस प्रकार नव तत्त्वों को जाने बिना व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होती।

त्रिकाली जीवद्रव्य के लक्ष्य से पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते हैं और परवस्तु के कारण भी पुण्य-पाप नहीं होते, अपितु जीव की एक समयमात्र की अवस्था में अरूपी शुभाशुभ विकारीपरिणाम होते हैं, वह पुण्य-पाप है।

अब, पाँचवाँ आस्रवतत्त्व है। पहले पुण्य-पापतत्त्व की अलग पहचान करायी थी और फिर आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हुए, पुण्य-पाप दोनों को आस्रव में डाल दिया है; इसलिए पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है, इस प्रकार जो पुण्य-पाप में अन्तर मानता है, उसे आस्रवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, आस्रव हैं। पुण्य-पाप से रहित सिद्धसमान सदा पद मेरा - ऐसा विचारनेवाले ने व्यवहार से नव तत्त्व को स्वीकार किया है।

जिस प्रकार किसी के पास से उधार लिया हो, किन्तु अभी उसका उधार चुका न पाया हो, उससे पहले तो वह उधार पूरा-पूरा चुकाना है - यह स्वीकार करे तो वह व्यवहार में साहूकार हुआ है और जब सारा उधार चुका दे, तब वास्तविक साहूकार हुआ कहा जाता है। इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य की अखण्ड निधि सिद्ध समान है, अनन्त गुणों का भण्डार है, उसमें एकाग्र

होकर, उसका अनुभव करनेरूप उधार चुकाने से पहले उसकी व्यवहारश्रद्धा करना, वह व्यवहार में साहूकार है अर्थात् व्यवहारश्रद्धा है और फिर अखण्ड चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके, उसका अनुभव करना, वह परमार्थ से साहूकारी है अर्थात् परमार्थश्रद्धा है। ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने में क्रम नहीं होता। पूर्ण की श्रद्धा के पश्चात् चारित्र में क्रम पड़ता है।

जिसने पुण्य और पाप इन दोनों तत्त्वों को विकाररूप से समान नहीं जाना, किन्तु पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है – ऐसा भेद माना, उसने आस्रवतत्त्व को नहीं जाना। जैसे, तालाब में नदी का पानी बाहर से आता है; इसी प्रकार आत्मा में आस्रवभाव कहीं बाहर की क्रिया से नहीं आता, परन्तु पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में आस्रवभाव, उस क्षण नये उत्पन्न हुए हैं। आस्रव, त्रिकाल जीवद्रव्य से नहीं हुआ तथा अजीवद्रव्य से भी नहीं हुआ है।

अहो! जब बहुत से लोगों को नव तत्त्व का भी भले प्रकार से पता नहीं है, तब उन्हें अन्तरस्वभाव की दृष्टि कैसे होगी? वे जीव तो आत्मा के भान बिना जैसे जन्मे थे, वैसे ही कौवे और कुत्ते की तरह अवतार पूरा करके, मरकर चले जाते हैं। उन्होंने जीवन में हित के लिए कुछ अपूर्व नहीं किया है। बाहर में कुदेवादि की विपरीतमान्यता छोड़कर, यह सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को भलीभाँति जानें तो भी अभी धर्म की व्यवहार रीति में आया है, अभी परमार्थ धर्म की रीति तो इससे भी अलग है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर, आत्मा की निर्मलपर्याय है। शरीर को संकुचित करके बैठ जाना, वह कोई संवर नहीं है। चैतन्य में एकाग्रता से सम्यग्दर्शन होता है, वह पहला संवर है। कोई यह मानता है कि पुण्य, क्षयोपशमभाव है और उससे संवर होता है तो यह मान्यता मिथ्या है। कर्म के उदय में जुड़ने से शुभवृत्ति का उत्थान होता है, वह पुण्य है; वह पुण्य, क्षयोपशमभाव नहीं है, अपितु उदयभाव है। पुण्य है, वह आस्रव है, वृत्ति का उत्थान है; यदि उसे उदयभाव नहीं कहेंगे तो किसे कहेंगे? क्या अकेले पाप को ही उदयभाव कहना है? पुण्य तथा पाप यह दोनों उदयभाव धर्म

के कारण नहीं हैं। संवर तो पुण्य-पाप से रहित निर्मलभाव है, वह धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता से ही संवर होता है - ऐसा संवरभाव, आत्मा में प्रगट होने से पूर्व उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। जिसे ऐसा संवरभाव प्रगट हुआ हो, वही सच्चे गुरु होते हैं; जिन्हें ऐसा संवरभाव प्रगट नहीं हुआ हो, वह सच्चा गुरु नहीं कहलाता है। इसलिए संवरतत्त्व की पहचान में सच्चे गुरु की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है। जिनमें संवरपना प्रगट नहीं हुआ हो - ऐसे अज्ञानियों का गुरुरूप से आदर करनेवाले जीव को संवरतत्त्व की श्रद्धा नहीं है और गुरु की पहचान भी नहीं है।

अहो! एक समय का संवर, वह मुक्ति प्रदाता है। ऐसे संवर के बदले जो जड़ की क्रिया में और पुण्य में संवर मनवाते हैं, वे सब कुदेव-कुगुरु हैं। वे कुगुरु, सच्चे धर्म के लूटनेवाले ठग हैं, उन्हें जो गुरुरूप में मानता है, वह जीव, धर्म के लूटेरों का पोषण करता है; अत: उसे धर्म नहीं हो सकता। जो पर से अथवा पुण्य से संवर होना नहीं मनवाते, अपितु आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से संवर मनवाते हैं और ऐसा संवर जिनकी आत्मा में प्रगट हुआ है - ऐसे गुरु को ही गुरुरूप से मानें, तब तो गुरु की अथवा संवरतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। अभी यह सब तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाता है।

अहो! जो सम्यक्त्व के पिपासु होते हैं, वे अन्तर में विचार करके इस जाति का ख्याल तो ज्ञान में करो! यह आत्मा की अन्दर की क्रिया है, इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पहले अन्तर में परमार्थस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना, वह पहला संवर है और फिर चारित्रदशा प्रगट होने पर विशेष संवर होता है।

आत्मा पर का कुछ कर सकता है, पुण्य से संवर/धर्म होता है - ऐसा माननेवाले की तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। जो ऐसे जीवों को गुरुरूप से मानकर आदर करता है, उस जीव को आत्मा के हित की कुछ भी दरकार नहीं है। मिथ्यात्व का सेवन तो सबसे बड़ा पाप है; शुद्ध चैतन्य

की श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना, वह संवर है। जिन्होंने स्वयं ऐसा संवर प्रगट किया हो और ऐसा ही संवर का स्वरूप बतलाते हों, वे ही सच्चे गुरु हैं। संवरभाव प्रगट होने से पूर्व संवर का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार समझने से ही नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। इसके अतिरिक्त जो पुण्य से धर्म मनवानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे नव तत्त्व की श्रद्धा भी नहीं है; इसलिए उसे तो व्यवहार धर्म भी प्रगट नहीं हुआ है, उसे आत्मा का परमार्थ धर्म होता ही नहीं।

अहो! यह नव तत्त्व की बात समझना अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर में नव तत्त्व का ख्याल करे तो आत्मा में प्रकाश हो जाता है और मार्ग स्पष्ट हो जाता है। पूर्व के विपरीत प्रकारों के साथ इस बात का मेल नहीं खा सकता; अत: पूर्व की पकड़ छोड़कर, पूर्वाग्रह त्यागकर, मध्यस्थ होकर पात्रतापूर्वक विचार करे तो अन्तर में यह बात बैठ जाती है। यह बात समझे बिना आत्मा का कल्याण अथवा धर्म नहीं हो सकता है।

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित नव तत्त्वों को रागमिश्रित विचार से मानने की भी जिसमें योग्यता नहीं है और कुगुरुओं के द्वारा कथित तत्त्वों को मानता है, उसे अभेद आत्मा के सन्मुख होकर परमार्थ श्रद्धा नहीं हो सकती। नव तत्त्व का विचार करने पर भेद पड़ते हैं और राग होता है; इसलिए वह व्यवहार श्रद्धा है। नव तत्त्वों के विचार एक समय में नहीं आते हैं क्योंकि वे तो अनेक हैं, उनमें एक तत्त्व के विकल्प के समय दूसरे तत्त्वों का विकल्प नहीं है; इसलिए नव तत्त्व के लक्ष्य से भेद और क्रम पड़ता है परन्तु निर्विकल्पदशा नहीं होती।

भूतार्थ आत्मा में एकपना है, वह एक समय में अखण्डरूप से प्रतीति में आता है और उसके लक्ष्य से ही निर्विकल्पदशा होती है परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा के लिए आत्मसन्मुख होने से पूर्व नव तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जो नव तत्त्व के क्रम-विचार में भी जो नहीं आया है, उसे उस क्रमरूप विचारों को छोड़कर अक्रम आत्मस्वभाव की एकता की अनुभूति नहीं होती है।

प्रथम, नव तत्त्व की श्रद्धा करके, उन नव के भेदों का विचार छोड़कर अभेद चेतनद्रव्य की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनरूपी संवर धर्म प्रगट होता है। संवरतत्त्व की श्रद्धा में सच्चे गुरु कैसे होते हैं? - उनकी श्रद्धा भी आ जाती है। संवरतत्त्व को धारण करनेवाले ही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य को संवरतत्त्व मानते हैं अथवा देह की क्रिया को संवरतत्त्व मानते हैं, वे सच्चे गुरु नहीं हैं। इस प्रकार संवर इत्यादि तत्त्व को और सच्चे गुरु को पहचाने तब तो व्यवहारश्रद्धा होती है, वह पुण्यभाव है और उससे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु को माने अथवा पुण्य को संवर माने तो उसमें मिथ्यात्व के पोषण का पापभाव है, उसे धर्म नहीं होता।

देखो, रोटी छोड़ दी, इसलिए मुझे उपवास अथवा संवर हुआ है - ऐसा माननेवाले को संवरतत्त्व के स्वरूप का पता नहीं है और जिसकी एक तत्त्व में भूल होती है, उसकी नव तत्त्वों में भूल होती है। सिद्धपरमात्मा के समान अपने आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रागरहित स्थिरता, वह संवर-धर्म है - ऐसे संवर इत्यादि नव तत्त्व की विकल्परहित श्रद्धा, वह व्यवहारश्रद्धा है और नव तत्त्व के विकल्परहित होकर एक भूतार्थ स्वभावरूप आत्मा की प्रतीति और अनुभव करना, वह वास्तव में सम्यग्दर्शन है। वही प्रथम धर्म है। निश्चयसम्यग्दर्शन का यही मार्ग है। ●

तीर्थधाम मङ्गलायतन

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन में

विशेष कक्षाओं का आयोजन

तीर्थधाम मङ्गलायतन स्थित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के नवीन सत्र में निम्न विशेष कक्षाओं का आयोजन किया गया है।

दिनांक 18 से 24 अगस्त 2013 - पण्डित रजनीभाई दोशी, हिम्मतनगर

दिनांक 05 से 12 अक्टूबर 2013 - श्रीमती वीणाबहिन, देहरादून

की विशेष कक्षाएँ आयोजित हैं।

वीरशासनप्रवर्तन दिवस के अवसर पर

अहा! कैसी होगी भगवान की वाणी!!

(स्वानुभवविभूषित प्रशममूर्ति बहिनश्री चम्पाबेन का सम्बोधन)

आज तो श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने का दिवस है। केवलज्ञान तो ऋजुवालीका नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दसमी के दिन प्रगट हो गया था। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने समवसरण की रचना की, किन्तु दिव्यध्वनि खिरी नहीं। मनुष्य एवं देववृन्द भावना भाते थे—आतुर हृदय से प्रतीक्षा करते थे कि आज दिव्यध्वनि खिरे! कल खिरे!

समवसरण में केवलज्ञानी भगवान, वीतराग मुद्रा में बिराजमान हैं। ध्वनि खिरी या खिरेगी—ऐसी प्रतीक्षा में सभी श्रोता निमग्न हैं।

मेघ के लिये मोर की तरह—'दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती? क्या कारण है?' ऐसे सब लोग प्रतीक्षा करते होंगे।

गौतमस्वामी आये और आज श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान की ध्वनि खिरी। उपादान एवं निमित्त के सुमेल का ऐसा ही सम्बन्ध है। एक क्षण में कैसा परिवर्तन हो गया! कहाँ ब्राह्मण व जैनेतर! 500 शिष्यों को पढ़ानेवाले! 'मेरे सदृश कोई नहीं, मुझे तो सर्वज्ञ जैसा ज्ञान है, मैं सब विद्या में पारंगत हूँ।'—अहा! कैसा अहम्? फिर भी भीतर में पात्रता कितनी!—कि इन्द्र ने, ब्राह्मण के स्वांग में आकर पूछा : 'छह द्रव्य, पंचास्तिकाय एवं नव पदार्थ का क्या स्वरूप है?' तो ऐसे भाव आये 'अरे! यह तो मैं कुछ जानता ही नहीं। मैं सब कुछ जानता हूँ किन्तु इस बात का तो मुझे कतई पता ही नहीं।'

गौतम—यह बात तुम कहाँ से लाये?

इन्द्र—मेरे गुरु के पास से।

गौतम—क्या वहाँ जा सकते हैं?—तो तेरे गुरु को मैं उत्तर दूँगा। (भीतर में) मैं कुछ जानता ही नहीं। अहा! उनकी पात्रता कितनी! समवसरण देखते ही आश्चर्य हुआ, सारा अहम् गल गया। समवसरण को देखने से सुपात्र जीव को सुलटे विचार ही आते हैं।

अहा! मानस्तम्भ में भगवान ऐसे हैं तो अन्तर साक्षात् भगवान (गुरु) कैसे होंगे! अहा! कितनी पात्रता! समवसरण में जानेवाले सभी को सुलटे विचार ही आते हैं; बाहर निकलकर किसी को उलटा विचार हो जाता है। जैसे मस्करी को बाहर निकलकर ऐसा विचार आया कि—मैं तो पार्श्वनाथ भगवान का साधु हूँ; अत: मुझे ही गणधरपद मिलना चाहिए था।

अरेरे! है कुछ पात्रता? है कुछ विचार? भगवान तो वीतराग हैं। उनकी दिव्यध्वनि खिरना—सुपात्र की उपस्थिति में—कुदरत के हाथ में है। अरे! उस समय में भी ऐसे जीव थे! यह दुषमकाल आनेवाला था न! भगवान की ध्वनि खिरे और समवसरण के बाहर आकर ऐसे विपरीत विचार करनेवाला हो, वह भी आश्चर्य की बात है न!

गौतमस्वामी की कितनी पात्रता! परिणति में एकदम परिवर्तन आ गया। मानस्तम्भ देखते ही मान वहीं पर उतर गया, आश्चर्य निमग्न हो गये। आगे बढ़ते हैं और पात्रता में वृद्धि होती जाती है। एक साथ सम्यग्दर्शन और मुनिपना! भगवान की ध्वनि खिरी और तत्काल ही 11 अङ्ग और 14 पूर्व की रचना कर दी। अहा! कितना परिवर्तन एवं पात्रता! अरे! क्षण-पूर्व तो दृष्टि ही उलटी थी और क्षण-पश्चात् सम्यग्दर्शन से लगाकर मुनिदशा! साथ में ऐसा ज्ञान! ऐसी लब्धियाँ! बारह अङ्ग की रचना! अन्तर में ऐसा परिवर्तन अन्तर्मुहूर्त में हुआ! अहा! चैतन्य की शक्ति कितनी!!

एकाएक भगवान की ध्वनि का प्रवाह छूटा। श्रोता तृप्त हो गये। अहा! धन्य वे श्रोता एवं धन्य वह दिन! मुनिवरों के वृन्द, देव-देवी, श्रावक-श्राविका और तिर्यञ्च—सभी तृप्त-तृप्त हो गये। 66 दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी।

वह तो चौथा काल था। तब तो वीतराग भगवान साक्षात् बिराजमान थे। तीर्थङ्कर भगवान का शासन चलता था। उस समय भी श्रेणिक राजा को जैनधर्म में लाने के लिये चेलना रानी को कितनी कठिनाई पड़ी थी! तो अब तो दुषमकाल है। ऐसे दुषमकाल में पुरुषार्थ करके स्वयं अपना हित शीघ्र कर लेना योग्य है।

जिस प्रकार तीर्थङ्कर भगवान की सभा में चक्रवर्ती एवं बलभद्रादि मुख्य होते हैं; उसी प्रकार भगवान की सभा में श्रेणिक राजा श्रोता में मुख्य थे। पहले वे अन्य धर्म को माननेवाले थे। उन्होंने अपना जीवन पलट दिया। भगवान के समवसरण में क्षायिकसम्यग्दर्शन पाया एवं तीर्थङ्कर -नामकर्म का बन्धन किया। महावीर भगवान के मुख्य भक्त बन गये।

वीरध्वनि का प्रवाह चला और 'ॐ' ध्वनि से पात्र जीवों के हृदय तराबोर कर दिये और चैतन्य के सच्चे मार्ग पर सब पलट गये—क्षण में मुनिदशा और क्षण में केवलज्ञान! कोई चारण ऋद्धिधारी, तो कोई श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी। ऐसा दिव्यध्वनि का प्रवाह कितने ही वर्षों तक चला।

अहो! इस भरतक्षेत्र में भगवान की ध्वनि खिरी-पञ्चशैल पहाड़ पर राजगृही नगरी में। जनता दौड़-दौड़कर जाये। भगवान तो बहुत जगह विहार करते हैं न! सचमुच उससे भरतक्षेत्र की भूमि पावन हुई है।

चैतन्यदेव 'है' और अनन्त शक्तियुक्त है—ऐसी सूक्ष्म-सूक्ष्म बातें भगवान की वाणी में आती हैं। किसी को शङ्का न रहे, पूछना न पड़े, ध्वनि में सभी के समाधान हो जाये। अहा! गुरुदेव की वाणी सुनकर भी कितने ही जागृत हो गये। यहाँ गुरुदेव बिराजते थे, सबको जागृत कर गये। दुषम काल है, बाकी सब चला करे। गुरुदेव ने आदि से अन्त तक का सब ज्ञान कराया—अंश से पूर्णता तक का। 'द्रव्य पूर्ण है। दृष्टि पूर्ण पर रख। द्रव्यदृष्टि से देखने पर, द्रव्य अखण्ड एवं परिपूर्ण है; उसमें अपूर्णता नहीं है। पर्याय में प्रथम अंशत: पश्चात् पूर्णत: प्रगट होता है।' भगवान की दिव्यध्वनि में जो आया है, वह गुरुदेव ने सब समझाया है। 'द्रव्यदृष्टि के बल पर अंश प्रगट करके आगे चलता जा तो पूर्ण हो जावेगा।' चैतन्य का चमत्कार अन्तर में प्रगट होता है। गुरुदेव की वाणी ऐसी थी तो भगवान की वाणी तो कैसी!

गुरुदेव पधारे तो यहाँ सुषमकाल हो गया था। ●

पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

भवभ्रमण का कारण

परपदार्थ से मुझे लाभ होता है अथवा कर्म मुझे भवभ्रमण कराते हैं, यह मान्यता ही जन्म-मरण का कारण है। त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से एक तत्त्व की अन्य तत्त्व में नास्ति है।'आत्मा है'—ऐसा कहने पर, अनन्त परपदार्थों की (राग-द्वेष और कर्म की) आत्मा में नास्ति है, ऐसा हुआ। जो पररूपावस्थावाला है, वह स्व (आत्मा) का क्या लाभ या क्या हानि कर सकता है? जो पर से आत्मा का हानि-लाभ समझते हैं, उन्हें यथार्थ में परतत्त्व से पृथक् आत्मतत्त्व की श्रद्धा ही नहीं है।

प्रश्न - ऊपर कहा गया है कि एक तत्त्व में पर की तत्त्व की नास्ति है, किन्तु आत्मा में यदि कर्म न हो तो आत्मा की परिभ्रमण कैसे?

उत्तर - कर्म की तो आत्मा में त्रिकाल नास्ति है परन्तु आत्मा की क्षणिक विकारी मान्यता है कि पर से मुझे लाभ होते हैं; और कर्म मुझे भवभ्रमण कराते हैं, यह मान्यता ही जन्म-मरण का कारण है। इस उल्टी मान्यता से ही आत्मा रुलता-फिरता है, कर्म ने नहीं रुलाया। आत्मा के स्वभाव में तो जन्म-मरण की नास्ति है। आत्मा का लाभकारी उसका अन्तरस्वभाव है और नुकसारकारी क्षणिक पर्याय में है; आत्मा के मूल स्वभाव में नहीं। आत्मा को पर से हानि या लाभ नहीं हो सकता।

प्रश्न - जो पर से आत्मा की हानि या स्वरूप को लेप नहीं तो फिर आत्मा की हानि किससे होती है?

उत्तर - अपने स्वतन्त्र स्वभाव को न मानकर पर से मुझे लाभ होते हैं - ऐसा मान बैठने से ही आत्मा की हानि होती है—यथा - वज्रवृषनाराच -संहननवाला शरीर होवे तो केवलज्ञान होवे, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताओं द्वारा उत्पन्न क्षणिक विकारीभाव ही हानि का हेतु है। इतना होने पर भी राग-द्वेषादिक क्षणिक विकारीभाव, आत्मा के त्रिकालवर्ती चैतन्यस्वभाव की हानि नहीं कर सकते।

प्रश्न - आत्मा का संसार-भ्रमण क्यों होता है?

उत्तर – पर तत्त्व मुझे लाभ-हानि पहुँचाता है, इस नास्ति की अस्ति होना तथा मेरा स्वरूप ही मुझे लाभ पहुँचाता है, इस अस्ति की नास्ति होना ही भवभ्रमण कारण है।

राग-द्वेष क्षणिक है। दो समय के राग-द्वेष कभी एकसाथ नहीं होते हैं। एक क्षणवर्ती राग-द्वेष की अन्य क्षण में सत्ता नहीं परन्तु आत्मा का त्रिकालवर्ती स्वरूप तो सर्वदा ही एकरूप है, अबाधित है। क्षणिक राग-द्वेष भाव त्रिकाली स्वरूप का कैसे नाश कर सकते हैं? त्रिकालवर्ती भाव ही क्षणिक विकार का नाश करता है।

यह त्रिकालस्वरूप की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। नित्य का बल से ही अनित्य का नाश हो सकता है, किन्तु अनित्य किसी नित्य को नुकसान नहीं पहुँचाता है। प्रभु! तेरी प्रभुता की बात एकबार तो कान पर पड़ने दे! तूने अपनी प्रभुता को पहिचाना ही नहीं और अनादि से अपना लक्ष्य क्षणिकभाव पर ही रखा है। नित्य स्वरूप पर जोर ही नहीं दिया, यही जन्म-मरण का मूल है।

स्वभाव में न तो जन्म-मरण है और न जन्म-मरण के कारण राग -द्वेषादिभाव ही हैं। जन्म-मरण का कारण परतत्त्व भी कदापि नहीं है। जन्म-मरण का कारण तो क्षणिक पर्याय में भ्रान्ति होती है, वह है। इस भ्रान्ति का नाश होते ही यह ज्ञान हो जाता है कि जन्म-मरणादि भाव मेरे स्वरूप में है ही नहीं। ऐसी श्रद्धा जागृत होने पर, जन्म-मरण रहते ही नहीं।

दुनिया माने चाहे न माने परन्तु यह त्रिकाल सत्य है। सत्य पराश्रयी नहीं, अपितु वस्तुस्वभाव ही सत्य है। सम्यक्त्वी इस स्वभाव को स्वीकार करता है और विभाव का नकार करता है। 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त गुणों का पिण्डरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व हूँ'—ऐसी श्रद्धा जिसे हो जाती है, उसे जन्म-मरण की शंका ही नहीं। हे आत्मा! अपने स्वरूप को स्वीकार तो सही। अन्यथा आँखे मींचकर कहीं का कहीं पहुँच जाएगा। सत्यस्वरूपज्ञान के ऐसे अवसर दुर्लभ होते हैं; अत: इसी क्षण स्वरूप की पहिचान कर ले।

— आत्मधर्म, वर्ष-1, अंक-6, अक्टूबर, 1945

एक चर्चा : पूज्य गुरुदेव से

शुद्ध, शुभ और अशुभ का विवेक

प्रश्न – शास्त्र में शुभ-अशुभ को समान कहा है, इसलिए हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है।

उत्तर – जो जीव, शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानता है और शुद्धोपयोग को नहीं जानता, उसे शुद्धता की अपेक्षा या बंध -कारण की अपेक्षा शुभ-अशुभ दोनों को समान बताया है परन्तु शुभ -अशुभ का परस्पर विचार करते हैं तो शुभभावों में कषाय मन्द होती है, इसलिए बन्ध भी हीन होता है, और अशुभभावों में कषाय तीव्र होती है, इसलिए उससे बन्ध भी अधिक होता है; इस प्रकार विचार करने पर सिद्धान्त में अशुभ की अपेक्षा शुभ को भला भी कहा गया है।

जैसे रोग, कम या अधिक बुरा ही है, किन्तु अधिक रोग की अपेक्षा कम रोग को भला मानते हैं; इसी प्रकार शुद्धोपयोग के अभाव में अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति करना भी योग्य माना गया है, किन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करना तो किसी भी तरह योग्य नहीं है।

प्रश्न – कामादिक या क्षुधादिक को मिटाते हुए अशुभरूप प्रवृत्ति हुए बिना नहीं रहती, और शुभप्रवृत्ति बिना इच्छा किये नहीं होती और ज्ञानी को इच्छा करना इष्ट नहीं है, ऐसी स्थिति में क्या शुभ के लिये उद्यम नहीं करना चाहिए?

उत्तर – शुभप्रवृत्ति में उपयोग लगने से अथवा उसके निमित्त से विरागता बढ़ने से कामादिक हीन होते हैं, क्षुधादि में भी संक्लेश कम होता है, इसलिए शुभोपयोग का अभ्यास करना योग्य है। उद्यम करने पर भी कामादिक या क्षुधादिक रहे तो उसके लिये वही करना चाहिए, जिससे पाप कम लगे किन्तु शुभोपयोग को छोड़कर नि:शंक पापरूप प्रवृत्ति करना तो योग्य नहीं है।

तुम कहते हो कि – 'ज्ञानी के इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है;' इसका समाधान यह है कि – जैसे कोई मनुष्य किंचित्मात्र

भी धन नहीं देना चाहता, किन्तु वह जहाँ देखता है कि अधिक द्रव्य चला जायेगा, वहाँ इच्छापूर्वक अल्प द्रव्य देने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता, किन्तु जहाँ अधिक कषायरूप अशुभकार्य की संभावना देखता है, वहाँ इच्छापूर्वक भी अल्प कषायरूप शुभकार्य करने का उद्यम करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जहाँ शुद्धोपयोग होता देखे, वहाँ तो शुभ-कार्य का निषेध ही है, किन्तु जहाँ अशुभोपयोग होता ज्ञात हो, वहाँ पर तो प्रयत्नपूर्वक भी शुभकार्य करना स्वीकार करना उचित है।

— मोक्षमार्गप्रकाशक पर आधारित तत्त्वचर्चा

★ ★ ★ ★ ★ ★

धर्मी के बिना धर्म नहीं

धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मरुचि होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओं के प्रति रुचि नहीं होती, उसे धर्मरुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्मा के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है, उसे धर्मरुचि और प्रेम नहीं है; और जिसे धर्मरुचि नहीं है, उसे धर्मी (अपने) आत्मा के प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मी के प्रति रुचि न हो और धर्म के प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता। क्योंकि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मी के बिना नहीं होता। जिसे धर्म के प्रति रुचि होती है, उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं, उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता और जिसे धर्म प्यारा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्मा का तिरस्कार करता है, वह धर्म का ही तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के २६ वें श्लोक में कहा है कि :- ''न धर्मो धार्मिकैर्विना।'' इसमें दुतरफा बात कही गयी है; एक तो यह कि जिसे अपने निर्मल शुद्धस्वरूप की अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है और दूसरा यह कि जिसे धर्मस्थानों या धर्मीजीवों के प्रति अरुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है। *— आत्मधर्म, वर्ष-1, अंक-2, जून, 1945*

पण्डितजी का पत्र : पारिवारिकजनों के प्रति

दिनाँक 12-6-1999

आदरणीय आत्मार्थी बन्धु पवनजी, आशाजी, स्वप्निलजी,
मुमुक्षु मण्डल अलीगढ़

जय-जिनेन्द्र!

(1) आप स्वयं भगवान है। ज्ञान के बिना आत्मा रहा ही नहीं। जो ज्ञानपर्याय होती है, वह आती है ज्ञानगुण से; अज्ञानी पर से मान लेता है।

(2) शरीरादि, मात्र ज्ञान का ज्ञेय है, यह व्यर्थ में ही शरीरादि को अपना मानकर दु:ख उठा रहा है।

(3) आप अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज है, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन भगवान है — व्यर्थ में मूर्तिक पुद्गलों के पिण्ड, ज्ञानादि रहित, एक-एक प्रदेशी, अनन्त आकारों से पागल बना फिरता है।

(4) शरीर को आत्मा ने छुआ भी नहीं है। अमूर्तिक को मूर्तिक छू ही नहीं सकता है — प्रत्येक द्रव्य -अपने गुण-पर्यायों से बाहर न गया है, न जायेगा, न जा सकेगा — ऐसा मानते ही स्वयं भगवान प्रत्यक्ष हो जाता है।

(5) कर्ता-कर्म एक द्रव्य में ही होता है, यह दो द्रव्यों में मानने के कारण वस्तुस्वरूप समझ में नहीं आता है।

(6) सर्व विशुद्धि अधिकार पर परमपूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन पढ़ो तथा आपने प्रवचनरत्नाकर पहला भाग भेजा, यह भी 11 गाथा से शुरु करके 15 तक अपूर्व है — सारा ही अपूर्व है।

भवदीय

कैलाशचन्द्र जैन

<u>समाचार-दर्शन</u>

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा संचालित
भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन में प्रवेश-प्राप्त
मङ्गलार्थी छात्रों की सोनगढ़ यात्रा सानन्द सम्पन्न

तीर्थधाम मङ्गलायतन : आध्यात्मिक युगसृष्टा, हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की साधनाभूमि एवं प्रभावनाभूमि से, प्रतिवर्ष की भाँति नये प्रवेश प्राप्त मङ्गलार्थियों को परिचय कराने हेतु दिनांक 18 जून 2013 से 27 जून 2013 तक सोनगढ़ यात्रा निकाली गयी। जिसके अन्तर्गत भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, अलीगढ़ एवं महावीर विद्यानिकेतन, नागपुर के लगभग पचास, मङ्गलार्थियों एवं वीरार्थियों ने भाग लिया।

सर्व प्रथम यात्रा का शुभारम्भ बड़ोदरा स्थित विदेहीनाथ सीमन्धर भगवान के दर्शन-पूजन से हुआ। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तिम पञ्च कल्याणक इसी मन्दिर का कराया था।

इसके बाद जहाँ से लव-कुश आदि साढ़े पाँच करोड़ मुनिराजों ने अपनी आत्मा को साधकर साध्यस्वरूप सिद्धदशा को प्राप्त किया, ऐसे पावागढ़ सिद्धधाम पहुँचकर वहाँ पर्वत पर स्थित सात जिनालयों के दर्शन किए जो कि प्राचीनतम शोभा से शोभित थे।

इसके बाद रात्रि में हमारे तारणहार की साधनाभूमि स्वर्णपुरी पहुँचे और पहुँचकर विश्राम किया, दूसरे दिन का शुभारम्भ परमागम मन्दिर में विराजित महावीर प्रभु की पूजन से हुआ, इसके बाद वहाँ की गतिविधियों के अनुसार प्रात: 08.30 बजे से 09.30 तक पूज्यपादस्वामी विरचित इष्टोपदेश ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री की अमृतरसभरी वाणी सुनी, इसके बाद कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन विद्यार्थीगृह में आदरणीय बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी द्वारा 09.45 से 10.45 तक पूज्य गुरुदेवश्री एवं जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, सात तत्त्व आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। तत्पश्चात् दोपहर 03.00 बजे से 04.00 बजे तक पण्डित संजय शास्त्री, तीर्थधाम मङ्गलायतन के द्वारा 'शंका समाधान' का कार्यक्रम किया गया, और तदुपरांत समस्त विद्यार्थी 04.30 बजे से 05.00 बजे तक वहाँ पर होनेवाली जिनेन्द्र भक्ति में शामिल हुए और रात्रि में 08.00 बजे से 09.00 बजे तक पुन: पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की भवतापहारिणी वाणी का श्री छहढाला ग्रन्थ पर लाभ मिला और इसके बाद 09.00 बजे से 09.45 बजे तक विद्यार्थीगृह में अलग-अलग संस्थाओं के विद्यार्थियों द्वारा

तत्त्वरस से भरे हुए सांस्कृतिक कार्यक्रम हुए, जिनमें महावीर विद्यानिकेतन, नागपुर के विद्यार्थियों ने 'लव-कुश का वैराग्य', तीर्थधाम मङ्गलायतन के छात्रों ने 'भव-भव की दस्तक' तथा विद्यार्थीगृह के विद्यार्थियों ने 'अध्यात्म वर्षा' नाम से सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। इसी भाँति चार दिन तक कार्यक्रम चला।

इसके बाद जिस पहाड़ से तीन पाण्डव आदि आठ करोड़ मुनियों ने मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को जीता, ऐसे शत्रुञ्जय पर्वत पर गए।

तत्पश्चात् पूज्य गुरुदेवश्री की पावन जन्मभूमि उमरालाधाम की ओर प्रस्थान किया, और वहाँ पहुँचकर सीमन्धर प्रभु के समक्ष भक्ति की और पूज्य गुरुदेवश्री की अनेक वस्तुओं से परिचित हुए।

यात्रा के अन्तिम चरण में जहाँ चतुर्थकाल के जिनबिम्ब विराजते हैं, जिस मन्दिर के तद्भव मोक्षगामी कोटीभट्ट श्रीपाल ने समुद्र तैरकर दर्शन किए, ऐसे घोंघा तीर्थक्षेत्र पहुँचे और पहुँचकर मनोहारी प्राचीन जिनबिम्बों के दर्शन किए।

तदुपरान्त भावनगर पहुँचकर वहाँ पर स्थित जिनालय के दर्शन कर, चैतन्यधाम अहमदाबाद की ओर प्रस्थान किया और वहाँ पर स्थित भव्य जिनालय में विराजमान जिनप्रतिमाओं की पूजन-भक्ति आदि की। जिनमन्दिर अकृत्रिम सा प्रतीत हो रहा था, सभी लोग उसे देखकर आश्चर्य कर रहे थे। वहाँ के विद्यानिकेतन के छात्रों के साथ भक्ति करके सभी को बहुत आनन्द हुआ। और अन्त में पुनः पुनः ऐसी यात्रा का सुयोग मिले—ऐसी भावना भाते हुए, यह मंगलमय यात्रा विराम को प्राप्त हुई।

प्रस्तुति : **मङ्गलार्थी विपिन जैन, खरेड़ी**

वैराग्य समाचार

हरिद्वार : श्री मोतीलाल जैन का देहपरिवर्तन अत्यन्त शान्त परिणामों से हुआ है। विदित हो कि आप स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन अलीगढ़ के दूसरे नम्बर के दामाद थे। आपको पूज्य गुरुदेवश्री, आदरणीय पण्डितजी एवं वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रति विशेष रुचि थी।

फिरोजाबाद : स्व. पण्डित वीरेन्द्रकुमार जैन 'वीर' की धर्मपत्नी श्रीमती सरोजदेवी का देहपरिवर्तन हुआ है। आप फिरोजाबाद नगर में वीतराग-विज्ञान पाठशाला का संचालन करती थी।

दिवंगत साधर्मीजन वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की आराधनापूर्वक आत्मश्रेय को प्राप्त करें, इस भावना के साथ तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार, संतृप्त परिजनों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदनायें प्रेषित करता है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में उपलब्ध

वीतरागी सत्साहित्य पर 50 प्रतिशत की आकर्षक छूट

तीर्थधाम मङ्गलायतन : प्रशममूर्ति बहिनश्री चम्पाबेन के जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा निम्न प्रकाशनों पर 50 प्रतिशत की आकर्षक छूट प्रदान की जा रही है। सभी मुमुक्षु मण्डलों एवं आत्मार्थी भाई-बहिनों से इस अवसर का लाभ लेने का अनुरोध है।

मूल ग्रन्थ—

पंचास्तिकाय संग्रह, जयसेनाचार्य कृत टीका	40.00 रुपये
अध्यात्म पंच संग्रह	35.00 रुपये
समाधितन्त्र	25.00 रुपये
छहढाला (अंग्रेजी)	100.00 रुपये
इष्टोपदेश	20.00 रुपये
अष्टपाहुड़	40.00 रुपये
नियमसार हिन्दी पद्यानुवाद	10.00 रुपये
तत्त्वज्ञान तरंगिणी (सोनगढ़ प्रकाशन)	10.00 रुपये
चर्चा शतक	10.00 रुपये
प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पद्यानुवाद	05.00 रुपये

प्रवचनसाहित्य पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी—

प्रवचनरत्न चिन्तामणि, भाग-2, 3	प्रत्येक 20.00 रुपये
भक्तामर रहस्य	20.00 रुपये
विषापहार प्रवचन	15.00 रुपये
देखो जी आदीश्वरस्वामी!	18.00 रुपये
स्वतन्त्रता की घोषणा	18.00 रुपये
आतम के हित पंथ लाग!	20.00 रुपये
स्वाधीनता का शंखनाद	18.00 रुपये
कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन, भाग-1 व 2	प्रत्येक 50.00 रुपये
दशधर्म प्रवचन	15.00 रुपये
जैनं जयतु शासनम्	15.00 रुपये
पञ्च कल्याणक प्रवचन	10.00 रुपये
योगसार प्रवचन, भाग-1 व 2	प्रत्येक 20.00 रुपये

धन्य मुनिदशा	35.00 रुपये
जिनप्रतिमा जिन सारखी	20.00 रुपये
वह घड़ी कब आयेगी ?	15.00 रुपये
वृहद् द्रव्य संग्रह प्रवचन, भाग–1 व 2	प्रत्येक 20.00 रुपये
भेदविज्ञानसार	20.00 रुपये
प्रवचनसुधा, भाग 3 व 4	प्रत्येक 25.00 रुपये
वचनामृत प्रवचन, भाग 2 व 3	प्रत्येक 25.00 रुपये
साध्य सिद्धि का अचलित मार्ग	10.00 रुपये
समयसार नाटक प्रवचन, भाग–1	25.00 रुपये
सम्यग्दर्शन	20.00 रुपये
आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	25.00 रुपये
द्रव्यदृष्टि प्रकाश	20.00 रुपये

विविध, कथा एवं बाल साहित्य—

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला	10.00 रुपये
धन्य मुनिराज हमारे हैं, भाग 1 से 5 (सेट)	75.00 रुपये
मंगल दैनन्दिनी	निःशुल्क
मंगल सम्बोधन	निःशुल्क
मंगल पत्रांजलि	निःशुल्क
आत्मसाधिक	18.00 रुपये
बोधि समाधि निधान	20.00 रुपये
अध्यात्म त्रि–पाठ संग्रह	05.00 रुपये
बढ़ते चरण, 1 से 4 (अंग्रेजी एवं गुजराती)	100.00 रुपये
सूक्ति सागर	05.00 रुपये
जिनवाणी वन्दना	05.00 रुपये
पण्डित दौलतराम जीवन और काव्य	10.00 रुपये
बलिदान (कॉमिक्स)	15.00 रुपये
कामदेव प्रद्युम्न (कॉमिक्स)	15.00 रुपये
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला	05.00 रुपये

सभी पुस्तकों पर डाक–व्यय एवं पैंकिंग खर्च अतिरिक्त देय होगा।

सम्पर्क सूत्र– **सत्साहित्य विक्रय केन्द्र,**
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216